बापू की सीख

महात्मा गांधी की रचनाओं में से
उनकी जीवन-शिक्षा
का
बालकोपयोगी संग्रह

१९५७

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, की सहमति से

तीसरी बार : १९५७
मूल्य
पिचहत्तर नये पैसे

मुद्रक
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

राष्ट्रपिता गांधीजी की रचनाओं में से उनके मूल-भूत विचारों का यह संग्रह स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों के लिए हम इस आशा और विश्वास से प्रकाशित कर रहे हैं कि उनके चरित्र-निर्माण में बापू के विचारों से सहायता मिले।

बापू ने अपनी शिक्षाओं में सबसे ज्यादा जोर आदमी के वैयक्तिक एवं सामूहिक विकास पर दिया है। इस संग्रह में वे सब विषय आ जाते हैं, जिनके आधार पर एक सच्चे नागरिक का निर्माण हो सकता है। यह पोथी जहां विद्यार्थियों को कर्तव्य का बोध करावेगी, संयम और अनुशासन का पाठ पढ़ावेगी वहां सेवाभावी एवं सदाचार-युक्त जीवन के निर्माण में भी सहायता देगी।

हम चाहते हैं कि बापू की शिक्षाओं की सार-रूप यह पोथी लाखों की संख्या में प्रसारित होकर बालक-बालक के हाथ में पहुंचे। अतः भारतीय राज्यों के शिक्षा-संचालकों से हमारा विशेष अनुरोध है कि वे अपने-अपने राज्य के स्कूलों व कालेजों के विद्यार्थियों में इनको अधिक-से-अधिक फैलाने में 'मंडल' की सहायता करने की कृपा करें।

—मंत्री

विषय-सूची

बापू की सीख

: १ :

विद्यार्थी-जीवन के कुछ अनुभव

पोरबंदर से पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सदस्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई सात साल की होगी। राजकोट की ग्रामीण पाठशाला में मैं भरती कराया गया। उन दिनों का मुझे भली-भांति स्मरण है। मास्टरों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबंदर की तरह वहां की पढ़ाई के संबंध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मेरी गिनती साधारण श्रेणी के विद्यार्थियों में रही होगी। पाठशाला से ऊपर के स्कूल में और वहां से हाई स्कूल तक पहुंचने में मेरा बारहवां वर्ष बीत गया। तबतक मैंने कभी शिक्षक को धोखा दिया हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। न अबतक दोस्त बनाने का स्मरण है। मैं बहुत संकोची लड़का था। मदरसे में अपने काम से काम रखता। घंटी बजते-बजते पहुंच जाता और स्कूल बंद होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है; क्योंकि मुझे किसीके साथ बातें करना नहीं रुचता था। मुझे यह डर भी बना रहता

था कि कोई मेरा मजाक न उड़ावे।

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभाग के इंस्पेक्टर, जाइल्स साहब, मुग्राइने के लिए आये। उन्होंने पहले दरजे के विद्यार्थियों को पांच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था 'केटल' (kettle)। उसके हिज्जे मैंने गलत लिखे। मास्टर ने मुझे बूट के इशारे से चेताया; पर मैं कहां समझनेवाला था? मेरे दिमाग में यह बात न आई कि मास्टरसाहब मुझे सामने के लड़के की स्लेट देखकर हिज्जे दुरुस्त करने का इशारा कर रहे हैं। मैंने यह मान रखा था कि मास्टर तो इसके लिए तैनात हैं कि कोई लड़का दूसरे की नकल न कर सके। सब लड़कों के पांचों शब्द सही निकले, अकेला मैं ही बेवकूफ बन गया। मेरी बेवकूफी बाद को मास्टर ने बतलाई। मेरे मन पर उसका कोई असर न हुआ। मुझे दूसरे लड़कों की नकल करना कभी न आया।

ऐसा होते हुए भी मास्टर के प्रति मेरा आदर कभी न घटा। बड़े-बूढ़ों के दोष न देखने का गुण मुझ-में स्वाभाविक था। बाद को तो इन मास्टरसाहब के दूसरे दोष भी मेरी नजर में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यों-का-त्यों कायम रहा। मैं इतना जानता था कि बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जो वे कहें करना चाहिए; पर वे जो कुछ करें, उसका काज़ी हमें न बनना चाहिए।

इसी बीच दूसरी दो घटनाएं हुईं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तकों के अलावा कुछ भी पढ़ने का शौक न था। सबक पूरा करना चाहिए, डांट सही नहीं जाती थी, मास्टर से छल-कपट नहीं करना था, इस विचार से मैं सबक पढ़ता, पर मन न लगा करता। इससे सबक बहुत बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तकें पढ़ने को जी कैसे चाहता? परंतु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक पर मेरी नजर पड़ी। इसे पढ़ने को दिल चाहा। बड़े अनुराग और चाव से मैंने उसे पढ़ा। इन्हीं दिनों काठ के बक्स में शीशों से तस्वीर दिखानेवाले भी फिरा करते। उनमें मैंने श्रवण का अपने माता-पिता को कांवर में बैठाकर यात्रा के लिए ले जानेवाला चित्र देखा। दोनों चीजों का मुझपर गहरा असर पड़ा। मन में श्रवण के समान होने के विचार उठते। श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है। उस ललित छंद को मैंने बजाना सीख लिया था। मुझे बाजा सीखने का शौक था और पिताजी ने एक बाजा ला भी दिया था।

इसी समय कोई नाटक-कंपनी आई और मुझे उसका नाटक देखने की इजाजत मिली। इसमें हरिश्चंद्र की कथा थी। यह नाटक देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी। बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता, पर बार-बार कौन जाने देता? जो हो, अपने

मन में मैंने इस नाटक को सैकड़ों बार दुहराया होगा। हरिश्चंद्र के सपने आया करते। यही धुन लगी कि 'हरिश्चंद्र की तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' यही धारणा होती कि हरिश्चंद्र के जैसी विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रक्खा था कि नाटक में जैसी विपत्तियां हरिश्चंद्र पर पड़ी हैं, वैसी ही वास्तव में उनपर पड़ी होंगी। हरिश्चंद्र के दुःखों को देखकर और उन्हें याद करके मैं खूब रोया हूं। आज मेरी बुद्धि कहती है कि संभव है, हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हों, पर मेरे हृदय में तो हरिश्चंद्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूं कि आज भी यदि मैं उन नाटकों को पढ़ूं तो आंसू आये बिना न रहें।

× × ×

जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। मेरे साथ मेरे और दो भाई भी उसी स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई बहुत ऊपर के दरजे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ ही हुआ था, वह मुझसे एक दरजा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के बाद उन्हें स्कूल छोड़ देना पड़ा। भगवान जानते हैं, विवाह के कारण कितने युवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं।

मेरी पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूल में मैं मंद-

बुद्धि विद्यार्थी नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम तो मैंने सदा प्राप्त किया था। हर साल माता-पिता को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के संबंध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दर्जे के बाद इनाम भी पाये और पांचवें तथा छठे दर्जे में तो क्रमशः ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियां भी मिली थीं। इस सफलता में मेरी योग्यता की अपेक्षा भाग्य का ज्यादा जोर था। ये छात्रवृत्तियां सब लड़कों के लिए नहीं सौराष्ट्र प्रांत के विद्यार्थियों के ही लिए थीं और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों के दर्जे में सौराष्ट्र के विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे ?

मेरी याद के अनुसार अपनी होशियारी पर मुझे गर्व न था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परंतु हां, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रुलाई आ जाती। यह मेरे लिए बर्दाश्त से बाहर था कि मेरे हाथों कोई ऐसी बात हो कि शिक्षक को शिकायत का मौका मिले अथवा वह मन में ऐसा सोचें। मुझे याद है कि एक बार मार खानी पड़ी थी। मार खाने का दुःख न था, पर इस बात का बड़ा पछतावा था कि मैं दंड का पात्र समझा गया। मैं खूब रोया। यह घटना पहले या दूसरे दरजे की है। दूसरा प्रसंग सातवें दरजे का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वह कड़ा अनुशासन रखते थे,

फिर भी विद्यार्थियों में प्रिय थे। वह बाकायदा काम करते और काम लेते तथा तालीम अच्छी देते। उन्होंने ऊंचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत, क्रिकेट अनिवार्य कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। अनिवार्य होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी जाता ही न था। न जाने में मेरा संकोची स्वभाव भी एक कारण था। अब मैं देखता हूं कि कसरत की यह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई संबंध नहीं। बाद में समझ में आया कि विद्याभ्यास में व्यायाम अर्थात शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मैं कहना चाहता हूं कि कसरत में न जाने से हानि न हुई। कारण, मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने की सलाह पढ़ी थी। वह मुझे पसंद आई और तभी से मुझे घूमने जाने की आदत पड़ गई, जो अबतक है। घूमना भी व्यायाम तो है ही और इससे मेरे शरीर में थोड़ा कसाव आगया।

व्यायाम की जगह घूमना जारी रखने की वजह से शरीर से कसरत न करने की भूल के लिए तो मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक भूल की सजा मैं आजतक भोग रहा हूं। पता नहीं कहां से मेरा यह गलत खयाल होगया था कि पढ़ाई में सुंदर लिखावट की जरूरत नहीं है। यह विलायत जाने तक

बना रहा। बाद में पछताया और शरमाया। मैंने समझा कि अक्षरों का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। हरेक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण से सबक लें और समझें कि सुंदर अक्षर शिक्षा का आवश्यक अंग है।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं। चौथे दरजे से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती थी; पर मैं कुछ समझ ही नहीं पाता था। रेखागणित में मैं यों भी पीछे था, और फिर अंग्रेजी में पढ़ाये जाने के कारण समझ में भी न आता था। शिक्षक समझाते तो अच्छा थे, पर मेरे दिमाग में कुछ घुसता ही न था। मैं बहुत बार निराश हो जाता। परिश्रम करते-करते जब रेखागणित की तेरहवीं शक्ल तक पहुंचा तब मुझे एकाएक लगा कि रेखागणित तो सबसे आसान विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है उसमें मुश्किल क्या है? उसके बाद से रेखागणित मेरे लिए सहज और मजेदार विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परंतु संस्कृत में, मेरी दृष्टि से, अधिक काम रटने का ही था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत के शिक्षक बड़े सख्त थे। विद्यार्थियों को बहुत-सा पढ़ा

देने का उन्हें लोभ था। संस्कृत और फारसी के दरजे में एक प्रकार की होड़-सी थी। फारसी के मौलवी-साहब नरम थे। विद्यार्थी आपस में बातें करते कि फारसी तो बहुत सरल है और फारसी के अध्यापक भी बड़े सज्जन हैं। विद्यार्थी जितना काम कर लाते हैं, उतने से ही वह निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं भी ललचाया और एक दिन फारसी के दरजे में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ और उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "तुम सोचो तो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्म की भाषा नहीं सीखोगे? अपनी कठिनाई मुझे बताओ। मेरी तो इच्छा रहती है कि सब विद्यार्थी अच्छी संस्कृत सीखें। आगे चलकर उसमें रस-ही-रस है। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरे दरजे में आओ।"

मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर पण्ड्याकी कृतज्ञ है; क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ी होती तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों का जो रसास्वादन कर पाता हूं वह न कर पाता; बल्कि अधिक संस्कृत न पढ़ सका, इसका पछतावा होता है; क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू-बालक को संस्कृत के अध्ययन से वंचित नहीं रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्ष के उच्च

शिक्षण-क्रम में अपनी भाषा के अलावा राष्ट्र-भाषा हिंदी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी को स्थान मिलना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनती से किसीको डर जाने की जरूरत नहीं। यदि भाषाएं ढंग से सिखाई जायं और सभी विषय अंग्रेजी के ही द्वारा पढ़ने, समझने का बोझ हमपर न हो तो उपर्युक्त भाषाओं की शिक्षा भार-रूप न होगी; बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगेगा। फिर एक भाषा जो शास्त्रीय पद्धति से सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुलभ हो जाता है।

वास्तव में तो हिंदी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक ही भाषा मानना चाहिए। यही बात फारसी और अरबी के लिए भी कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृत के जैसी है, और अरबी हिब्रू के जैसी, तथापि दोनों भाषाएं इस्लाम के जन्म के पश्चात् फली-फूली हैं, इसलिए दोनों में निकट संबंध है। उर्दू को मैंने अलग भाषा नहीं माना; क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिंदी में होता है। उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं। ऊंचे दरजे की उर्दू जाननेवाले के लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसाकि उच्चकोटि की गुजराती, हिंदी, बंगला, मराठी जाननेवाले के लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

—'आत्मकथा' से

: २ :

नीति-धर्म

जिस वस्तु से हमारे मनमें अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं : एक से वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहां ये तीनों इकट्ठे हों वहां कैसी खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है, और जान लेना ही काफी नहीं है बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार तो शिल्पकार के नकशे के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नकशा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नकशे की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के

वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं, और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीति के विचारों को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमें संपूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुनकर हमें चौंक न उठना चाहिए, बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझकर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया। मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया था तो फिर पहुंचने के पहले लड़ाई न लड़नी थी।" इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसीको जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है, उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करनेवाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का

दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति-भंग करते हैं, वे ही अपने-आपको दोषभाजन बनाते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबासी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रहा नहीं जाता। खूराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवाले का एहसानमंद होता है, वैसे ही जैसे भूखा अन्न देनेवालों को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिल्कुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतने के मानो तो यह हुए कि हम केवल सरहद पर पहुंच पाए। इस मार्ग के अंदर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्य को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमें कोई लाभ होगा।

× × ×

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की

बहुत परवा नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं; बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगों को नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी बेंथमको, जिसने इंगलैण्ड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूंढ़ निकाले, जिसने अंग्रेज जनता में शिक्षा के प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्ते से हम परिचित हों या न हों—उसपर हमें चलना ही चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उसपर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं।

अपनी इच्छाओं की जांच करें तो हम देखेंगे

कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरी प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उस-पर हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आंकना है; बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं के पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घर-बार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें, जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत होगये। जो करना हमें उचित है उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जन-समाज या कुटुंब में अनीति के बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगार की मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय

और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ीभर शांति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों में नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजी से नीति-रूपी संदूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

—'धर्म-नीति' से

: ३ :

अदल इंसाफ

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी होगया है। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाये थे। उसकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है। वेनिस के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की। उसकी कही हुई बातें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परंतु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उसके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।" दूसरी जगह उसने

कहा है, "हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौत से बचाता है ।" इन दोनों कथनों में सोलो-मन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम मृत्यु है। इस ज़माने में इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत: हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते । जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालनेवाले लेबिल लगाना, इत्यादि ।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दु:ख देता है वह अंत में दर-दर भीख मांगेगा ।" इसके बाद कहता है, "गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं । व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सतायेगा, खुदा उसे सतायेगा ।" लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है । यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं । डकैत तो मालदार के यहां डाका डालते हैं, परंतु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है ।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं । खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है । खुदा उनको ज्ञान देता है ।" अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता । एक से दूसरे का काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसीको ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता । परंतु

जब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात नीचे की ओर बहती है। इसी तरह धन को भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परंतु जैसे नदी की गति बदल सकती है वैसे ही धन की गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत-सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बांध बांधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने में वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है। इसी तरह धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह कि वह धन विषतुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय तो बांधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है; परंतु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिक को विष देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य

पदार्थ तैयार किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में 'चीकरी', मक्खन में चरबी इत्यादि। यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं?

परंतु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरी लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस जमाने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्याय-बुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। केवल लेन-देन के व्यावसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेड़िये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परंतु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बना-कर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर का उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी मांगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियों को मजदूरी की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंहमांगी उजरत मिल जायगी और यह प्रायः जितनी होनी चाहिए उससे अधिक ही होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या

इससे अधिक काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आयें और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा। फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलास में रुपया खर्च न करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्याय का सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जायगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अंत में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मज़दूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे, क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसीलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है और इसीलिए प्राय: ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं, मज़दूर चाहता है कि मैं ठग लूं! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ा जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का

जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं, ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दुःख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं, वह अंत में दुःख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है।

इसलिए ज्ञानियों ने कह रखा है--

"जहां धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।"

अंग्रेज मुंह से तो कहते हैं कि धन और ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियों की गिनती करके अपनेको सुखी मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं, जिन्हें सीखकर लोग धनवान होजायं। सच्चा शास्त्र न्याय-बुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय--जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं। 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' के समान हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

—'सर्वोदय' से

: ४ :

सत्य

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही, 'सत्' अर्थात् सत्य है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत्' या सत्य ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रगट करनेवाला है।

सत्य के साथ ज्ञान---शुद्ध ज्ञान---अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है वहां शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहां सत्य ज्ञान है वहां आनंद ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनंद भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानंद के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज ही में हमारे

हाथ लग सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को संपूर्णतः समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आये हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनंद तो हो ही कहां से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायं तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं?

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान ने दिया है—अभ्यास और वैराग्य से। सत्य की ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायंगे कि एक के लिए जो सत्य है दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबराने की बात नहीं है। जहां शुद्ध प्रयत्न है वहां भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देनेवाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही

क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है । पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं । इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है । फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी, क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है, अर्थात आत्मकष्ट-सहन की बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अतः उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती । ऐसी निःस्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंतपर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया । भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है ।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिस में हार नाम की कोई चीज है ही नहीं । वह तो 'मर-कर जीने का मंत्र है ।'

इस प्रसंग के साथ हरिश्चंद्र, प्रह्लाद, रामचंद्र, इमाम, हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचा-रने योग्य हैं । सारे काम करते हुए यह रटन लगाए रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो । यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है । हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो ।

--'मंगलप्रभात' से

: ५ :

अहिंसा

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांड़े की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के संपूर्ण दर्शन तो इस देह से असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अंत में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आनेवाले संकटों को सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे

दंड दिया। उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अंधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया; क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं है; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य—शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय तो अंत में चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शांति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं; हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह

अपने-आप घट जाता है और देह के अंदर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है ।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है । किसीको न मारना इतना तो है ही । कुविचारमात्र हिंसा है । उतावली हिंसा है । मिथ्या भाषण हिंसा है । द्वेष हिंसा है । किसीका बुरा चाहना हिंसा है । जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है । पर हम जो कुछ खाते है वह जगत के लिए आवश्यक है । जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरोंतले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है । फिर क्या आत्महत्या कर लें ? तो भी निस्तार नहीं है । विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी । यह मोहरहित स्वरूप सत्य-नारायण है । यह दर्शन अधीरता से नहीं होते । यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए ।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असंभव है । अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू । उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा ? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए । साधन अपने हाथ की बात है । इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई । सत्य परमेश्वर हुआ ।

साधन की चिंता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आयं, बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

—'मंगलप्रभात' से

: ६ :

ब्रह्मचर्य

वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्य ने सत्य को वरण किया है, उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकार की आराधना की तो बात ही कहां उठ सकती है? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह संतानोत्पत्ति के काम में या घर-गिरस्ती चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है? भोगविलास द्वारा

किसीको सत्य प्राप्त होने की आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसा के पालन को लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जहां पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरों के लिए क्या बच रहा? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा। अतः यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुंब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुंब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेप होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसार में देख रहे हैं। इस-लिए अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाले से विवाह नहीं बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते? हमने इसका रास्ता निकाल ही रखा है--विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना। इस दिशा में इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थिति का मजा जिसने चखा

है वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरे को भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ों से वे मुक्त हो जाते हैं। संसारभर की सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं—यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचा ले जानेवाला, बंधन में से मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं, कुटुंब बढ़ाते हैं। विकाररूपी मैल निकालने से प्रेम भी बढ़ता है। विकारों के जाने से एक-दूसरे की सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहां कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचार के समझ लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है। वीर्य का उपयोग दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। उसका विषय-भोग में उपयोग करना यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म तीनों से होना चाहिए। व्रतमात्र के विषय में यही बात समझनी चाहिए। हम गीता में पढ़ते हैं कि जो शरीर

को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने में हानि ही है। जहां मन होता है वहां शरीर अंत में घसिटाए बिना नहीं रहता। यहां एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, मन का अपने-आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अंत में जीत ही है। हमारा प्रतिपल का यह अनुभव है कि शरीर क़ाबू में रहता है, पर मन ही नहीं रहता। इसलिए शरीर को तो तुरंत ही वश में करके मन को वश में करने का हम सतत प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया। हमारे, मन के अधीन होते ही, शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरंभ हो जाता है। पर जहांतक मनोविकार को दबाले ही रहते हैं वहांतक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असंभव, माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य को संकुचित अर्थ में लिया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निरोधभर को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयाल में यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषयमात्र का

निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्संदेह, जो अन्य इंद्रियों को जहां-तहां भटकने देकर एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करने-वाले के लिए इंद्रियमात्र का, उनके विकारों से रोकने का निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डालें तो जननेंद्रिय को वश में रखने का प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतों में उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की—शोध में चर्या अर्थात् तत्-संबंधी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेंद्रिय-संयम-रूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-संयम-रूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

—'मंगलप्रभात' से

: ७ :

सत्य और अहिंसा का पालन

सर्प को मारें या नहीं ? स्त्री के ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारी को मारें या नहीं ? खेत में जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलाएं या नहीं ? अहिंसा का उपासक इन प्रश्नों को हल करने में न लगे। इन गुत्थियों को जब सुलझाना होगा तब वे अपने-आप सुलझ जायंगी, इस भुलावे में पड़ना अहिंसा को बिसार देने के बराबर है।

अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने अंतर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हज़ारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया ? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली ? उसे कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली ? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला ? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया; प्यासे बटोहियों ने मुझसे पानी मांगा, मैंने न दिया; मेहमान आये, उनका नमस्कार से भी सत्कार न किया; मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना विचारे

काम लादता रहा; बैल को पैना मारता रहा; रसोई में भात कच्चा था इससे खीझा—ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन करें तो दूसरे विषयों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है। जो कौड़ी की फिक्र करेगा उसकी कौड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

× × ×

जो बात अहिंसा की है वही सत्य की समझिए। गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है, उसको भूल जायं तो सत्य की साधना न हो सकेगी; यों गहरे पानी में पैठना सत्य को ढांकने का रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा, इसका ज्ञान हमें अपने आप हो जायगा।

इस दृष्टि से हममें से हरएक को केवल अपने आपको ही देखना है। अपने विचार से मैं किसीको

ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमें नहीं हैं उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं ? बोलने में अतिशयोक्ति करता हूं ? किए हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूं। जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं ? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरेक को रोज अपने आपसे हिसाब लेकर आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलने की ही आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंह से निकल ही न सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

—'धर्म-नीति' से

: ८ :

अस्तेय (चोरी न करना)

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोर का सत्य को जानना या प्रेम-धर्म का पालन संभव नहीं है, तथापि हम सब थोड़ा-बहुत चोरी का दोष जाने-अनजाने करते हैं। दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीज की भी चोरी करता है। जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाए बिना, उससे छिपाने की नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रम का भंडार हम सभीका कहलायगा; पर उसमें से चुपके से गुड़ की एक डली भी लेनेवाला चोर है। दूसरे लड़के की कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। पडुआ (राह में पड़ी) चीज के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेश का राज या वहां की सरकार है। आश्रम के नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम के मंत्री को सौंपनी चाहिए। आश्रम की न होने पर मंत्री उसे पुलिस के हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी।

अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में ज्यादा-से-ज्यादा खाने की चीजों के संबंध में होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरत से ज्यादा खाता हूं, तो यह चोरी है। वस्तुतः अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्रायः हम सब, अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते हैं। अस्तेयव्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इससे सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसीकी चीज पाने की इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नहीं खाता, पर दूसरों को खाते देखकर यदि वह मन से स्वाद लेता है तो चोरी करता है और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मन में उपवास के बदले भोजन के मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवास का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालनकर्त्ता भविष्य में मिलनेवाली चीजों के चक्कर में

नहीं पड़ता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है, कल उसे पाने को हम भले-बुरे तरीके काम में लाते हैं।

वस्तु की भांति ही विचारों की चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी करना है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की और आज कर रहे हैं। मान लीजिए कि मैंने आंध्र में नए ढंग का एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रम में बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा आविष्कार है। तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से दूसरे के आविष्कार की चोरी करता हूं और इसमें असत्य का आसरा तो लेता ही हूं। अतः अस्तेयव्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

—'मंगलप्रभात' से

: ९ :

अभय

अभय के बिना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं। अभय के बिना सत्य की खोज कैसे हो सकती है?

अभय के बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है, वहां कायर का काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीर के मानी हैं भययुक्त तलवारादि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरता का चिह्न नहीं, बल्कि भीरुता की निशानी है।

अभय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति—मौत का भय, धन-दौलत लुट जाने का भय, कुटुंब-परिवार-विषयक भय, रोगभय, शस्त्रप्रहार का भय। प्रतिष्ठा का भय, किसीके बुरे मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लंबी बढ़ाई जा सकती है। साधारणतः कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भय को जीत लिया तो सब भयों को जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकार के दुःखों से भागते हैं। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे-संबंधियों का वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवाह नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने को तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसार की निंदा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने में हिचकिचायगा। सत्य की खोज करनेवाले का तो समस्त भयों की तिलां-

जलि दिये ही निस्तार है। उसकी हरिश्चंद्र की भांति मिट जाने की तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चंद्र की कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्र का यह अनुभव है। अत: उस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा से अनंत गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा मननीय है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार होगया हो। अभय मोहरहित स्थिति की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से—सतत प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरंभ में ही कहा है कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण हैं। देहविषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो जा सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'—यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं हैं; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसीका हूं; 'मेरी' कहलानेवाली इस संसार में

कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है। इसलिए उपनिषदकार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करनेभर की ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहज में भयमात्र को जीत लें, सहज में शांति पा जायं, सत्यनारारण के दर्शन प्राप्त कर लें।

—'मंगलप्रभात' से

: १० :

अस्पृश्यता-निवारण

अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं, पर अछूत नही हैं, वैसे मृतक (लाश) भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मुर्दे को छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनवाने के बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है। मुर्दे को छूकर या तेल लगाकर न नहानेवाले को गंदा भले ही कहिए, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं

है। यों तो बच्चे का मैला उठाने पर माता जबतक न नहाए या हाथ-पैर न धोए तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कारसूचक हो गये हैं और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा वर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत में स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता—छुआछूत—हिंदू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिंदू का धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अतः उसे पाप माननेवालों को चाहिए कि उसका प्रायश्चित करे। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित रूप से भी धर्म समझकर हिंदू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहन को अपनावें, प्रेम-पूर्वक सेवा-भाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें। अछूत के दुख दूर करें। कुचले जाने के कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषों को धैर्यपूर्वक दूर करने में उन्हें सहायता दें और दूसरे हिंदुओं को

भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता को इस दृष्टि से देखते हुए उसे दूर करने में होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामों को व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों, तथापि अस्पृश्यता-निवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालों को अपनाएगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक फल का विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारी के लिए कोई युक्ति नहीं है, वह तो उसके शरीर से लगी हुई वस्तु है, उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता की बुराई समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी-चमार कहलानेवाले लोगों तक ही सीमित रही हो, सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने के बराबर लगती है, फिर पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अंत में जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूत के संबंध में भी है। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य संप्रदायों के प्रति आई है, एक ही संप्रदायवालों के बीच भी घुस गई है और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। वे अपने आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपनेको पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी-

चमार को अपनाकर ही संतोष न मानेगा, वह जीव-मात्र को अपने में न देखने तक और अपनेको जीवमात्र में न होने तक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा का जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसा के मानी हैं जीव-मात्र के प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यता-निवारण का भी यही अर्थ है। जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है। अस्पृश्यता को यों देखने पर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशों में संसारभर में फैला हुआ है, पर यहां हमने उसका हिंदूधर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है, क्योंकि हिंदूधर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

—'मंगलप्रभात' से

: ११ :

शरीर-श्रम

शरीर-श्रम मनुष्यमात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबंध से मेरी समझ में आई। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद

फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। शरीर-श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह् की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आंखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ शरीर-श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करने-वाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसीके खाना डाल देने पर खाय तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनंद भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभी को अंग-

संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता है। और संसार के सैकड़े नब्बे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शांति और कितना आरोग्य फैले ? यदि खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं। इसके सिवा यदि शरीर-श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चता की गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी घुस गई है। मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीर से ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत: केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिए तो शरीर-श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तव में देखा जाय तो, खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इस-लिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में

दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो बर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवाले ने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सभी भंगी हैं यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे शरीर-श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रूप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने। बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोग के होने की तो बात ही क्या है?

'मंगलप्रभात से'

: १२ :

सर्वधर्म-समभाव

अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गए होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतंत्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसीको ऊंच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी

हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे हैं। पर झूठा होना भी असंभव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्य दर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अंतर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में

जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभीमें संत स्त्री-पुरुष हो गए हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में और धर्मियों—मनुष्यों के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें, कुछ अंतर है। मनुष्य मात्र—दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

× × ×

यह विषय इतने महत्व का है कि इसे यहां और विस्तार से लिखना चाहता हूं।

आत्म-संतोष के लिए मैं भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तकें उलटा रहा था, तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिंदू इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष-भरके लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा; परंतु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं

आता कि उन धर्मों के संबंध में टीका-टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन् उनके ग्रंथों को धर्मग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढ़ता और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिंदू-धर्मग्रंथों के संबंध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभव से देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह मानने की जल्द-बाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं, वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसाने में भी नम्रता और विवेक होने के कारण किसीको दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। मैंने कहा है कि धर्म-धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की शृंङ्खला नहीं टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परंतु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव में से बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि

स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखायगा। या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अंत में विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें संदेह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी। दूसरे को, भूल के लिए भी हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना-है। इस स्वर्ण नियम का पालन करनेवाला सभी संकटों में से बच जाता है।

—'मंगलप्रभात' से

: १३ :

नम्रता

नम्रता अभ्यास से नहीं प्राप्त होती, वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले-पहल बनी तो मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान न देने की सूचना की थी और तब भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं है तथापि वह व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है; आवश्यक तो है ही। परंतु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त नहीं होती देखी गई। सत्य का अभ्यास

किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परंतु नम्रता के संबंध में, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दंभ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके लिए तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं, लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि-सरीखा बनकर समाज में बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गए। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विष-रूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का आत्यंतिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण

की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनंत चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परंतु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नहीं हो जायं' तो हम सबकुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से—परमात्मा से—सत्य से—पृथक् हो जाना। कुछका मिट जाना, परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परंतु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्योंही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता—शून्यता—अभ्यास से कैसे आ सकती है ? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है ? दूसरे के लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा ? उसने तो जब प्राण न्योछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थ-रहितता न कहलायगी ? हिंदू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्य को, पाखंड को स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है, परंतु वह सब परमार्थ के लिए होना

चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया--हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए भी आराम की कल्पना कर सकते हैं; परंतु समुद्र में रहनेवाले बिंदु के लिए आराम कहां? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है? ठीक यही बात हमारे संबंध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया, आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महा-अशांति में शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखती है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार। इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परंतु अनुभव-गम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हमसब अनुभव कर सकते हैं।

—'मंगलप्रभात' से

: १४ :

स्वदेशी

स्वदेशीव्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा, उसके पालने के लिए व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। जो स्वभावतः निरामिषाहारी हैं उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उल्टी आवेगी।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधों-से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पानेवाला देह का भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहनेवालों की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभा-सित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इनके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है। यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबी-जन अथवा ग्रामवासियों को मैंने छोड़ा तो मुझपर उसका जो आधार था वह चला गया। दूरवालों की सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़ कर चला ही था। यों हर तरह से उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी-धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः', वाक्य की उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते' हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है'। स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी को समझ न पाने से ही गड़बड़ी होती है। कुटुंब पर मोह रखकर मैं उसे पोसूं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं, तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालने से परधर्मी को या पर-धर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए। पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभिमान है, अतः वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुंब का बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंब की सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपनेको खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंब को खोकर कुटुंब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गांव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपनेको, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊं और इस रोग में फंसकर वे मौत के मुंह में चले जायं तो मैंने कुटुंब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ; शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचारधारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आनेयोग्य, सभीको जिसके पालने की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालने से भी हिंदुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है, ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालने से परदेशी मिलवालों का नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे

कलवार को या अफीम के दुकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खेद्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहनकर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु भले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किंतु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जायं तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी का कभी

द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुंदर धर्म है।

—'मंगलप्रभात' से

: १५ :

सच्चा न्याय

साक्रेटीज (सुकरात) एथेंस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नए, पर नीति-वर्धक विचार राजशक्तिधारियों को न रुचे। इससे उसे मौत की सजा मिली। उस जमाने में उस देश में विषपान कराके मार देने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटीज को मीराबाई की तरह का प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटीज ने जो अंतिम वचन कहे उनके सार पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटीज को हम सुकरात कहते हैं। अब भी इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं। भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता। फिर मैं तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसीकी भी मौत अचानक नहीं

आती । मृत्युदंड मेरे लिए सजा नहीं है । मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे जहर का प्याला दिया है। इसीमें मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देने-वालों के प्रति मेरे मन में क्रोध नहीं है। उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके।

"महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है : मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जायं और धन के लोभी हो जायं तो जो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें। वे दंभी हो जायं, जैसे न हों वैसे दिखाने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें। आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया।"

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह मांग अद्भुत है। जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था। इससे सुक-रात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी संतान को चेताया और उससे उसने क्या आशा रखी थी यह बताया। महाजनों को मीठी फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमनसी के लिए सजा दी थी। सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया वह उसके

लड़कों के लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो वे दंड के योग्य समझे जायं।

—'धर्म-नीति' से

: १६ :

अद्भुत त्याग

अक्सर सामान्य पाठ्यपुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूं। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझपर तो भरपूर हुआ। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अतः उसका सार यहां दिये देता हूं।

पैगंबर साहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत-से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आमतौर से लड़ाई बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तब अरब-सेना में का एक अरब अपने चचेरे भाई को ढूंढ़ने निकला कि उसकी लाश मिल जाय तो दफनाए और जिंदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर उसने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन

लिये देखता जा रहा था। उसका भाई उसे मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी। अतः उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अतः बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। निःश्वास छोड़ता हुआ यह भाई वायुवेग से दौड़कर जहां से आर्त्तनाद आ रहा था वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी न मिला! अतः यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है कि उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दुखभरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बंद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीनों घायलों में किसीने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गए। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उसका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं; पर ऊपर जो अद्‌भुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब आलमारी जैसी कोठरी के अंदर बहुत-से आदमी ठूंस दिये गये हों, एक ही सूराख से थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायं। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नंबर पर पानी की आवश्यकता —प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौके पर उक्त बहादुर अरबों

का त्याग हममें आये; पर ऐसी अग्नि-परीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं ? न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आता।

—'धर्म-नीति' से

: १७ :

विद्याभ्यास

आश्रम में कितने लोगों को वाचन-शिक्षण—पढ़ाई-की तालीम—की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमी को देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रम के साथ जुड़ी ही रहेगी। उसके कारण की चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमें इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यास का अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करने की रीति नहीं जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टि से प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति में बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम

आत्म को, अपने-आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसीको साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र की, किसीको कला की; पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्याभ्यास न होंगे। विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्य-परायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है। जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे-से-छोटा काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है, खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का। जो हरएक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है, वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरएक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह जानेगा कि आश्रम एक महान पाठशाला है, जिसमें शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी जो आत्म-दर्शन--सत्य दर्शन--के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीज में वह निपुण है उसके विषय में वह शिक्षक है, जो उसको

सीखना है, उसके विषय में विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें और जिसमें पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जायं त्यों-त्यों हमारी विद्या—सत्य-दर्शन की शक्ति—बढ़ती ही जायगी।

तब अक्षरज्ञान का क्या हो ? यह प्रश्न अब रहता ही नहीं। जो बात अन्य कार्यों के विषय में है वही अक्षरज्ञान के विषय में है। ऊपर के विवेचन से एक वहम की अर्थात शिक्षाशालारूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षक के भ्रम की जड़ कट जाती है। हमें अक्षरज्ञान की जिज्ञासा हो तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्न से प्राप्त करना है।

—'धर्म-नीति' से

: १८ :

वाचन और विचार

पाठशालाओं में हम पड़ते हैं—'वाचन मिथ्या बिना विचार।' यह उक्ति शब्दशः सत्य है। हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जायगा। आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जायगा; पर जो खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकार का रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलतः पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करने-वाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सकता। यह देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करने की आदत

पड़ जाय तो उसके पास विचार-पोथी तो प्रस्तुत रहती ही है । अतः उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता ।

विचार करना 'सीखना', यह शब्द-प्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है । सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं । वह तो पागलपन है । कितने ही विचारों के भंवर में पड़कर निराश हो जाते और आत्मघात भी कर बैठते हैं । ऐसे विचार की बात यहां नहीं की जा रही हैं । इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुए पर विचार करने तक है । मान लीजिए कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना—यह विचार-पद्धति कही जायगी । यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टांत लिया है। इसमें से हरएक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंत में आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा ।

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है ?"—अरे मुसाफिर, उठ। सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है । पर जो विचार करना चाहता है

वह तो अपने-आपसे पूछता है——मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा हुआ के मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति से अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात के मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल——लापरवाह——रहता है उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवाले के लिए यह बोझरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

—'नीति-धर्म' से

: १६ :

शरीर

शरीर की जानकारी के पहले हमें आरोग्य का अर्थ जान लेना चाहिए। आरोग्य का मतलब है तंदुरुस्ती। जिसका शरीर व्याधि-रहित है, साधारण काम करने योग्य है, अर्थात् जो बिना थके रोज दस-बारह मील चल सकता है, मामूली मेहनत के काम बिना थकान के कर सकता है, साधारण खूराक पचा सकता है, जिसकी इंद्रियां और मन सजीव है, वह तंदुरुस्त कहा जायगा। मेरा मतलब पहलवान शरीर या बहुत दौड़ने-कूदने की ताकत से नहीं है। ऐसी असाधारण शक्ति प्रकट करने-वाले रोग-ग्रस्त हो सकते हैं। ऐसे शारीरिक विकास को एकांगी कहेंगे।

जिस तरह के आरोग्य की बात कही गई है उसके लिए शरीर का कुछ ज्ञान आवश्यक है।

राम जानें पहले शिक्षा का क्या रूप था। इतिहासज्ञ कुछ जानते होंगे। वर्तमान शिक्षा का तो हम सबको थोड़ा-बहुत पता है। इस शिक्षा का हमारी रोजाना जिंदगी से कोई संबंध नहीं रहता। इसके द्वारा हमें, हरदम हमारे काम आनेवाले शरीर का ज्ञान नहीं के बराबर ही मिलता है। वही दशा अपने गांव, अपने खेत के ज्ञान के संबंध में है। लेकिन दुनिया-के भूगोल को तो हम तोते की तरह रटते हैं! मैं उसे अनुपयोगी नहीं कहता, लेकिन सभी चीजें मौके से

शोभा देती हैं। हमें अपने शरीर, घर, गांव, गांव की चौहद्दी, वहां पैदा होनेवाले पेड़-पौधों और गांव के इतिहास का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस नींव के आधारवाला अन्य ज्ञान हमारे लिए उपयोगी हो सकता है।

शरीर पांच महाभूतों से बना है। कवि ने कहा है :

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह प्राणि-सरीरा॥

शरीर का व्यवहार दस इंद्रियों और मन द्वारा चलता है। दस इंद्रियों में पांच कर्मेंद्रियां हैं और पांच ज्ञानेंद्रियां। हाथ, पांव, मुंह, जननेंद्रिय और गुदा—पांच कर्मेंद्रियां हैं। स्पर्श करनेवाली त्वचा, देखनेवाली आंख, सुननेवाले कान, गंध जाननेवाली नाक और स्वाद या रस को पहचाननेवाली जीभ—ये पांच ज्ञानेंद्रियां हैं। मन के द्वारा हम विचार करते हैं। कोई-कोई मन को ग्यारहवीं इंद्रिय कहते हैं। इन इंद्रियों के व्यवहार पूरी तरह चलते रहने पर ही मनुष्य तंदुरुस्त कहा जा सकता है। ऐसी तंदुरुस्ती बिरले की ही पाई जाती है।

शरीर की कुल रचना हमें आश्चर्य में डालनेवाली है। शरीर इस संसार का एक छोटा-सा, लेकिन जीता-जागता नमूना है। जो उसमें नहीं है वह संसार में नहीं है। जो संसार में है वह शरीर में है, 'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे, यह महावाक्य यही बतलाता है।

मतलब, शरीर को पूरी तरह से जान पाने पर कहा जा सकता है कि हम जगत को जानते हैं। पर ऐसा, ज्ञान तो डाक्टर, वैद्य, हकीमों तक को नहीं मिल पाता, हम साधारण मनुष्य तो पा ही कहां सकते हैं ? अभी तक ऐसा कोई यंत्र नहीं निकला कि जिससे मन जाना जा सके। विशेषज्ञ शरीर के भीतर-बाहर होनेवाली क्रियाओं के आकर्षक वर्णन दे सकते हैं, लेकिन वे क्रियाएं होती कैसे हैं यह नहीं बता सकते। किसने जाना है कि मौत क्यों आती है ? कौन बता सकता है कि वह कब आयगी ? मतलब, मनुष्य ने पढ़ा, सोचा, अनुभव किया बहुत, लेकिन अंत में वह इसी नतीजे पर आया कि वह अल्पज्ञ है।

शरीर के अंदर चलनेवाली अद्भुत क्रियाओं पर ही इंद्रियों का सुख आधारित है। शरीर के सभी अंगों की नियमबद्धता पर शरीर का सही संचालन निर्भर है, किसी भी खास अंग का काम रुका कि गाड़ी अटकी। इनमें भी मेदा, अपना काम ठीक न करे तो समूचा शरीर मांदा हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि अपच या कब्ज की ओर से लापरवाह रहनेवाले शरीर-धर्म को नहीं जानते। अनेक रोग इसीमें से पैदा होते हैं।

अब शरीर के उपयोग के बारे में विचार करें।

हर वस्तु का भला और बुरा उपयोग हो सकता है। शरीर पर भी यह नियम घटता है। उसे स्वार्थ या उच्छृंखलता अथवा दूसरों को हानि पहुंचाने में बरतना, उसका दुरुपयोग है। संसार की सेवा में लगाना, उससे संयम

साधना, उसका सदुपयोग समझा जायगा। हमारा शरीर यदि आत्मा को—जो परमात्मा का अंश है—पहचानने में लगाया जाय तो वह आत्मा के रहने का मंदिर बन जाता है।

शरीर को मल-मूत्र की खान कहा गया है। एक तरह से सोचने पर इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। पर यदि शरीर इससे अधिक कुछ न हो तब तो उसका जतन करने के कोई मानी नहीं होते। लेकिन दूसरी दृष्टि से देखें और उसे मल-मूत्र की खान कहने के बजाय यह समझें कि उसमें कुदरत ने मल-मूत्रादि निकालने के द्वार भी रखे हैं तो उसे दुरुस्त रखकर सुरक्षित रखना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। हीरे या सोने की खान को देखा जाय तो वास्तव में तो वह मिट्टी की खान ही है; पर उसमें सोना या हीरा होने का ज्ञान मनुष्य से उसके पीछे करोड़ों रुपए खर्च करवाता है और उसपर अनेकानेक विशेषज्ञों की बुद्धि लगती है। फिर आत्मा के मंदिर-रूपी शरीर के लिए कुछ करने में क्या दुश्वारी है?

जगत में मनुष्य उसका ऋण चुकाने यानी उसकी सेवा करने को जन्म लेता है। इस दृष्टि से तो मनुष्य अपने शरीर का संरक्षक (ट्रस्टी) सिद्ध होता है। उसे शरीर का ऐसा जतन करना चाहिए कि वह सेवा-धर्म के पालन में पूरा काम दे सके।

—'आरोग्य की कुंजी' से

: २० :

नशीली चीजें

नशीली चीजों में, हिंदुस्तान में शराब, गांजा, भांग, तंबाकू और अफीम गिनी जा सकती हैं। इस देश में पैदा होनेवाले नशों में ताड़ी भी एक है और विदेश से आनेवाली शराबों का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। ये सब सर्वथा त्याज्य हैं। नशे से आदमी होश खो देता है और उस हालत में बेकार हो जाता है। शराब-की लतवाले खुद बरबाद होते और अपने कुटुंब को बरबाद करते हैं। शराबी सब मर्यादाएं तोड़ देता है।

एक पक्ष है जो एक निश्चित मात्रा में शराब पीने का समर्थन करता है और उससे फायदा बतलाता है। मुझे इस दलील में कोई जान नहीं मालूम होती। जरा देर को मान भी लें तो बहुत लोग जिससे मर्यादा में रह ही नहीं सकते, इस वजह से भी इसे छोड़ना चाहिए।

ताड़ी का समर्थन पारसी भाइयों की ओर से अधिक हुआ है। वे कहते हैं कि ताड़ी में नशा जरूर है, लेकिन ताड़ी खुराक है और साथ ही दूसरी खूराक को पचाने में मदद देती है। इस दलील पर मैंने बहुत विचार किया और इस बारे में काफी पढ़ा, लेकिन ताड़ी पीनेवाले बहुत गरीबों की जो दुर्दशा मैंने देखी है उससे मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि मनुष्य की खूराक में ताड़ी को कोई जगह नहीं हो सकती।

जो गुण ताड़ी में बतलाए जाते हैं वे सब हमें दूसरी खूराक से मिल जाते हैं। ताड़ी ताड़ और खजूर के रस से बनती है। उनके शुद्ध रस में नशा बिल्कुल नहीं है। शुद्ध रूप में रहने पर इसे नीरा कहा जाता है। इस नीरा को असली हालत में पीने पर बहुतों को साफ पाखाना आता है। मैंने स्वयं नीरा पीकर देखा है। अपने पर मैंने यह असर नहीं पाया। पर वह खूराक का काम बखूबी करती है। चाय वगैरा के बदले में आदमी सुबह ही नीरा पी ले तो उसे और कछ खाने या पीने की जरूरत नहीं रह जानी चाहिए। नीरा को ईख के रस की तरह पकाने पर उससे बहुत बढ़िया गुढ़ बनता है। मुल्क में कई तरह के ताड़ और खजूर, बिना मेहनत के उगते हैं। उन सबमें से नीरा निकल सकती है। नीरा ऐसी चीज है कि जहां निकले वहां उसे तुरंत पिया जाय तो कोई जोखिम नहीं रहती। उसमें मादकता जल्दी पैदा हो जाती है। इसलिए जहां इसका इस्तेमाल तुरंत न हो सकता हो, वहां इसका गुड़ बना लिया जाय तो यह ईख के गुड़ का काम देता है। कुछ लोग यह मानते हैं कि यह ईख के गुड़ से ज्यादा गुणकारी है। इसमें मिठास कम होने की वजह से ईख के गुड की अपेक्षा यह अधिक परिमाण में खाया जा सकता है। ग्रामोद्योग-संघ द्वारा ताड़-गुड़ का खासा प्रचार हुआ है। अभी इससे बहुत ज्यादा होने की जरूरत है। जिन ताड़ों में से ताड़ी बनाई जाती है, उनमें से गुड़ बनाया जाय तो हिंदुस्तान में गुड़, खांड की कमी ही न

रहे और गरीबों को सस्ते में बढ़िया गुड़ मिल सके। ताड़-गुड़ में से खांड़, चीनी दोनों बन सकती हैं। पर गुड़, गुण में खांड़ और चीनी से बहुत बढ़कर है। गुड़ में जो क्षार हैं वे खांड और चीनी में नहीं रह जाते। जो हालत बिना चोकर के आटे या बिना कन के चावल की है वही बिना क्षार की चीनी की समझनी चाहिए। खुराक के अपनी स्वाभाविक स्थिति में होने पर हमें उसमें से अधिकाधिक सत्त्व मिलता है।

ताड़ी की चर्चा करते हुए अनायास नीरा का उल्लेख करना पड़ा और उसके सिलसिले में गुड़ का। लेकिन शराब के बारे में अभी और कहना है। शराब की बुराई का जितना कड़ुआ अनुभव मुझे हुआ है उतना सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में से शायद ही और किसीको हुआ होगा। दक्षिण अफ्रीका में गिरमिट में जानेवाले हिंदुस्तानियों में से बहुतों को शराब पीने की आदत पड़ी होती है। वहां का कानून है कि एक हिंदुस्तानी शराब घर पर नहीं ले जा सकता। जितनी पीना चाहे शराब-खाने में जाकर पियें। औरतें शराब की शिकार होती हैं। उनकी जो दशा मैंने देखी है वह अत्यंत करुणा-जनक थी। उसे देखनेवाला कभी शराब का समर्थन न करेगा। वहां के हब्शियों को साधारणतः अपनी मूल स्थिति में शराब पीने की आदत नहीं थी। कहना होगा कि उनका तो शराब ने सत्यानाश ही कर डाला है। बहुत-से हब्शी मजदूर अपनी कमाई शराब में स्वाहा करते पाये जाते हैं। उनका जीवन भारमय बन

जाता है। अच्छे-अच्छे समझदार माने जानेवाले अंग्रेजों को मैंने नालियों में लोटते देखा है। यह अति-शयोक्ति नहीं है। लड़ाई के दिनों में जिन्हें ट्रांसवाल छोड़ना पड़ा था ऐसे गोरों में से एक को मैंने अपने यहां रखा था। वह इंजीनियर था। शराब न पीये रहने की हालत में तो उसके सब लक्षण अच्छे थे। वह थियो-सोफिस्ट था; लेकिन उसे शराब की लत थी। पीने पर वह बिल्कुल पागल हो जाता था। उसने शराब छोड़ने की बहुत कोशिश की; लेकिन जहांतक मैं जानता हूं, अंततक वह सफल न हो सका।

दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर भी दुःखदायी अनुभव ही हुए। कितने ही राजा शराब की बुरी लत के कारण बिगड़ गए और बिगड़ रहे हैं। जो राजाओं के लिए सही है वही कम-बेश बहुत-से धनी युवकों के लिए भी कहा जा सकता है। मजदूरों की हालत देखी जाय तो वह भी करुणाजनक ही है। पाठकों को इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ऐसे कटु अनुभवों के पश्चात मैं क्यों मद्यपान का भारी विरोधी हो गया हूं।

एक वाक्य में कहूं तो मद्यपान से मनुष्य शरीर, मन और बुद्धि से हीन हो जाता है और पैसे तो खोता ही है।

—'आरोग्य की कुंजी' से

: २१ :

गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदों का निचोड़ उसके ७०० श्लोकों में आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा है कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे ज्ञानामृत से वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ़ ग्रंथ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रंथों का मनन करके पंडित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वह प्रकाश में लाये। उसपर एक महाभाष्य की रचना भी की। तिलक महाराज के लिए यह गूढ ग्रंथ था; पर हमारे-जैसे साधारण मनुष्य के लिए वह गूढ़ नहीं है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ़ लें। गीता का सब सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी के अध्यायों में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसीको कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों

में से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं[1] जिनमें गीता-का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनंद में रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभि-चारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमी को नहीं जाना जिसने गीता का अव्यभिचा-रिणी भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षा में फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर में डूब जाते हो। गीता निराश होनेवाले को पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरी को सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनों चीजें समान हैं। मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता, वह तो अनन्य भक्ति से ही

---

[1] गांधीजी ने स्वयं चुनकर कुछ श्लोकों का एक संग्रह 'गीता प्रवे-शिका' के नाम से किया था।

प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मैं कह सकता हूं कि इसमें से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूंगा कि मैं अपनी इस मूर्खता पर अटल रहूंगा। इसलिए सब विद्यार्थियों से मैं कहूंगा कि सबेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास का मैं भक्त हूं; पर तुम लोगों को इस समय मैं तुलसीदास नहीं समझता हूं। विद्यार्थी की हैसियत से तो तुम गीता का ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भाव से नहीं, भक्ति-भाव से। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमें से मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने-जैसी चीज तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनोंदिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम कारागृह में हो या जंगल में, आकाश में या अंधेरी कोठरी में, गीता का रटन तो निरंतर तुम्हारे हृदय में चलता ही रहेगा और उसमें से तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसके रटन में जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है, केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म निर्वाण है।

—'गीता-माता' से

●

'मडल' के प्राप्य प्रकाशन

आत्मकथा (गांधीजी) ४)
प्रार्थना-प्रवचन (२ भाग) ,, ५॥)
गीता-माता ,, ४)
पंद्रह अगस्त के बाद ,, १॥), २)
द० अफ्रीका का सत्याग्रह ३॥)
मेरे समकालीन ,, ५)
आत्म-संयम ,, ३)
गीता-बोध ,, ॥)
अनासक्तियोग ,, १॥)
ग्राम-सेवा ,, ।=)
मंगल-प्रभात ,, ।=)
सर्वोदय , ।=)
नीति-धर्म ,, ।=)
आश्रमवासियों से ,, ।=)
हमारी मांग ,, १)
सत्यवीर की कथा ,, ।)
संक्षिप्त आत्मकथा ,, १) १॥)
हिंद-स्वराज्य ,, ।॥)
अनीति की राह पर ,, १)
बापू की सीख ,, ॥)
गांधी-शिक्षा (तीन भाग) १=)
आज का विचार (दो भाग) ।॥)
ब्रह्मचर्य (दो भाग) ,, १।॥)
गांधीजी ने कहा था (५ भाग) १।)
शान्ति यात्रा (विनोबा) १।)
विनोबा के विचार (२ भाग) ३)
गीता-प्रवचन ,, १॥)
जीवन और शिक्षण ,, २)
स्थितप्रज्ञ-दर्शन ,, १)
ईशावास्यवृत्ति ,, ।॥)
ईशावास्योपनिषद् ,, =)
सर्वोदय विचार ,, १=)
स्वराज्य-शास्त्र ,, ॥)
गांधीजी को श्रद्धांजलि ,, ।=)

भूदान-यज्ञ (विनोबा) ।)
राजघाट की संनिधि में ,, ॥=)
विचार-पोथी ,, १)
सर्वोदय का घोषणा-पत्र ,, ।)
जमाने की मांग ,, =)
उपनिषदों का अध्ययन ,, १)
मेरी कहानी (नेहरू) ८)
मेरी कहानी संक्षिप्त ,, २॥)
हिन्दुस्तान की समस्याएं ,, २)
लड़खड़ाती दुनिया ,, २)
राष्ट्रपिता ,, २)
राजनीति से दूर ,, २)
हमारी समस्याएं ,, ।॥)
सं० हिंदुस्तान की कहानी ५)
नया भारत ,, ।)
आजादी के आठ साल ,, ।)
आत्मकथा (रा० प्र०) ८)
गांधीजी की देन (रा०प्र०) १॥)
गांधी-मार्ग ,, =)
महाभारत-कथा (राजाजी) ५)
कुब्जा-सुंदरी ,, २)
शिशु-पालन ,, ॥)
मैं भूल नहीं सकता (काटजू) २॥)
कारावास-कहानी (सु. नैयर) १०)
गांधी की कहानी (फिशर) ४)
भारत-विभाजन की कहानी ४)
इंग्लैंड में गांधीजी २)
बा, बापू और भाई ॥)
गांधी-विचार-दोहन १॥)
सत्याग्रह-मीमांसा ३॥)
बुद्ध-वाणी (वियोगी हरि) १)
संत-सुधासार ,, ११)
अयोध्याकाण्ड ,, १)
भागवत-धर्म (हरिभाऊ) ५॥)

श्रेयार्थी जमनालालजी (ह. उ.) ६।।)
स्वतंत्रता की ओर ,, ४)
बापू के आश्रम में ,, १)
मानवता के झरने (मावलंकर) १।।)
बापू (घ० बिड़ला) २)
रूप और स्वरूप ,, ।।=)
डायरी के पन्ने ,, १)
ध्रुवोपाख्यान ,, ।)
स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय) १)
मेरी मुक्ति की कहानी,, १।।)
प्रेम में भगवान ,, २)
जीवन-साधना ,, १।)
कलवार की करतूत ,, ।)
हमारे जमाने की गुलामी,, ।।।)
बुराई कैसे मिटे ? ,, १)
बालकों का विवेक ,, ।।)
हम करें क्या ? ,, ३।।)
धर्म और सदाचार ,, १।)
अंधेरे में उजाला ,, १।।)
ईसा की सिखावन ,, १)
कल्पवृक्ष (वा० अग्रवाल) २)
लोक-जीवन (कालेलकर) ३।।)
साहित्य और जीवन २)
कब्ज (म० प्र० पोद्दार) १)
हिमालय की गोद में,, २)
कहावतों की कहानियां,, २)
राजनीति-प्रवेशिका १)
जीवन-संदेश (ख० जिब्रान) १।)
अशोक के फूल ३)
जीवन-प्रभात ५)
कांग्रेस का इतिहास (२ भाग) २०)
पंचदशी १।।)
सप्तदशी २)
रीढ़ की हड्डी १।।)
अमिट रेखाएं ३)
नवप्रभात (नाटक) १)
कृषि-ज्ञान-कोष ४)

प्रकाश की बातें १।।)
धरती और आकाश १।)
ध्वनि की लहरें १।।)
मेरी जीवन-यात्रा २)
एक आदर्श महिला १)
राष्ट्रीय गीत ।)
तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर) १।।)
थेरी-गाथाएं १।।)
बुद्ध और बौद्ध साधक १।।)
जातक-कथा (आनंद कौ०) २।।)
हमारे गांव की कहानी १।।)
खादी द्वारा ग्राम-विकास ।।।)
साग-भाजी की खेती ३)
ग्राम-सुधार १।)
पशुओं का इलाज ।।)
चारादाना ।)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
रोटी का सवाल (क्रोपा०) ३)
नवयुवकों से दो बातें ,, ।=)
पुरुषार्थ (डा० भगवान्‌दास) ६)
काश्मीर पर हमला २)
शिष्टाचार ।।)
तट के बंधन २)
भारतीय संस्कृति ३।।)
आधुनिक भारत ५)
फलों की खेती २।।)
दलहन की खेती १)
मैं तन्दुरुस्त हूं या बीमार ? ।।)
नवजागरण का इतिहास ३)
गांधीजी की छत्रछाया में १।।) २।।)
भागवत-कथा ३।।)
जय अमरनाथ १।।)
लद्दाख की यात्रा की डायरी २।।)
हमारी लोककथाएं १।।)
पुण्य की जड़ हरी १।।)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ
(२८ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)